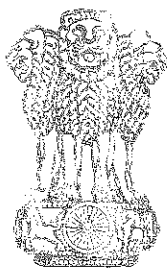


142



भारत सरकार

विधि और न्याय मंत्रालय



सत्यमेव जयते

भारत का विधि आयोग

विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963

को बाबत

एक सौ सैंतालीसवीं रिपोर्ट

1994

प्रबंधक, भारत सरकार मुद्रणालय, कोल्कता द्वारा मुद्रित तथा प्रकाशन-
निर्वाहक, भारत सरकार, सिविल वाइन्स, दिल्ली-110 054 द्वारा प्रकाशित

मूल्य : (देश में) रुपए 181.00 या (विदेश में) £ 6.99 या \$ 10.85

के० एन० सिंह
भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिपति

अध्यक्ष
विधि आयोग
भारत सरकार
शास्त्री भवन
नई दिल्ली-110001

फोन : कार्या० 384475
निवा० 3019465

अ०शा०सं० 6(3)(23)/93-बी०आ०(एल एस)

6 अक्टूबर, 1993

प्रिय प्रधान मंत्री जी,

“विनिदिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963” की बाबत भारत के विधि आयोग की 147 वीं रिपोर्ट प्रेषित करते हुए मुझे अत्यंत हर्ष हो रहा है।

2. विनिदिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 के विभिन्न उपबंधों का निर्वचन करने के दौरान जो समस्याएं और कठिनाइयां सामने आई हैं उन्हीं के परिणामस्वरूप विधि आयोग स्वप्रेरणा से विभिन्न प्रश्नों पर विचार करने के लिए इस दृष्टि से प्रेरित हुआ है कि विधि और सरल हो जाए तथा तकनीकी बातों पर मुकदमेवाजी से बचा जा सके।

3. आयोग को विश्वास है कि ये सिफारिशें जब स्वीकार और कार्यान्वित हो जाएंगी तब विनिदिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 से उत्पन्न समस्याएं और कठिनाइयां कम हो जाएंगी।

सादर,

भवदीय,
(ह०)
(के०एन० सिंह)

माननीय श्री पी० वी० नरसिंह राव
प्रधान मंत्री तथा विधि, न्याय और कंपनी कार्य मंत्री
नई दिल्ली।

विषय-वस्तु

	पृष्ठ
अध्याय 1 : भूमिका	1
अध्याय 2 : राज्यक्षेत्रीय व्यापकता	2
अध्याय 3 : कब्जे के प्रत्युद्धरण के लिए वाद	2
अध्याय 4 : वे व्यक्ति जिनके द्वारा संविदाएं विनिर्दिष्टतः प्रवृत्त की जा सकेंगी	3
अध्याय 5 : तत्परता और इच्छा	5
अध्याय 6 : पारस्परिकता का सिद्धांत	7
अध्याय 7 : कब्जा और विभाजन	8
अध्याय 8 : संविदा का विखंडन	9
अध्याय 9 : डिक्रियों का रद्दकरण	9
अध्याय 10 : सिफारिशें	9
टिप्पण और संदर्भ	11

भूमिका

1.1. रिपोर्ट का प्रारंभ—इस रिपोर्ट की विषय-वस्तु पर विचार भारत के विधि आयोग ने स्वप्नेरणा से प्रारंभ किया है।

1.2. विधि का इतिहास—भारत में विनिर्दिष्ट अनुतोष विधि को मूल रूप से विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1887 द्वारा संहिताबद्ध किया गया था। इस अधिनियम के उपबंधों पर विधि आयोग ने अपनी नौवीं रिपोर्ट में विचार किया था जिसके परिणामस्वरूप पूर्वतर अधिनियम के स्थान पर विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 (1963 का अधिनियम सं० 47) अधिनियमित किया गया। आयोग की नौवीं रिपोर्ट में तत्कालीन वस्तुस्थिति के लिए जो उचित कारण थे उनका उल्लेख किया गया था और आयोग ने जिस नए विधान का प्रस्ताव रखा था उसे विनिर्दिष्ट अनुतोष के निम्नलिखित सात स्वरूपों तक सीमित रखा था, अर्थात् :

- (1) संपत्ति के कब्जे का प्रत्युद्धरण ;
- (2) संविदाओं का विनिर्दिष्ट रूप से क्रियान्वयन ;
- (3) विलेखों का सुधार ;
- (4) संविदाओं का विखंडन ;
- (5) विलेखों का रद्दकरण ;
- (6) घोषणात्मक डिक्रियां ; और
- (7) व्यादेश।

विभिन्न प्रकारों के क्षतिपूर्तिकारी अनुतोष और कतिपय अधिनियमों में विनिर्दिष्ट रूप से उल्लिखित विनिर्दिष्ट अनुतोष को 1963 के अधिनियम में शामिल नहीं किया गया था।

1.3. पुनर्विचार की आवश्यकता—विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 से अनेक समस्याएं और कठिनाइयां सामने आई हैं। वास्तव में इसने कुछ उपबंधों पर विरोधी न्यायिक रायों को जन्म दिया है। (i) इस प्रश्न पर परस्पर विरोधी न्यायिक रायें हैं कि क्या कोई स्वामी तब धारा 6 के अधीन कब्जे के लिए वाद ला सकता है जब वह स्वयं नहीं बल्कि उससे हक प्राप्त करने वाला कोई अन्य व्यक्ति संपत्ति पर कब्जा किए हुए हो ; (ii) अधिनियम की धारा 15 की बाबत भी कठिनाई है। भारत के न्यायालयों के सामने प्रायः ऐसी स्थिति तब आई है जब संविदा अभिव्यक्त रूप से किसी पर-पक्षकार के फायदे के लिए है पर न्यायालयों ने ऐसे पर-पक्षकार के कहने पर-संविदा को प्रवृत्त करने में संकोच प्रकट किया है। ऐसा इस बात के होते हुए भी है कि संविदा का प्रतिफल ऐसे पर-पक्षकार की ओर से गतिमान हो सकता है ; (iii) धारा 16 में आने वाले इन शब्दों ने कि “जो यह प्रकथन करने और साबित करने में असफल रहे” काफी मुकद्दमों को जन्म दिया है ; (iv) धारा 22(2) के उपबंधों का विश्लेषण करते समय उच्चतम न्यायालय ने बाबूलाल बनाम हजारी लाल किशोरी लाल¹ के निर्णय में इस बात पर बल दिया है कि धारा 22(2) के परंतुक में “कार्यवाही” शब्द के पश्चात् “जिसके अंतर्गत निष्पादन कार्यवाही भी है” शब्दों को जोड़ने की आवश्यकता है ; (v) इस प्रश्न पर विभिन्न न्यायिक रायें हैं कि न्यायालय संदाय के लिए मूल रूप से नियत किए गए समय को बढ़ा सकते हैं या नहीं, धारा 28 के अधीन डिक्री के निबंधन कुछ भी क्यों न हों ; (vi) इस बारे में भी संदेह प्रकट किए गए हैं कि मुलह डिक्री से भिन्न डिक्री धारा 31 के अधीन ‘लिखित लिखतें’ पद के अर्थ के अन्तर्गत आएंगी या नहीं ; (vii) राष्ट्रीय स्तर पर एकरूपता लाने की दृष्टि से धारा 1 पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। इन्हीं कठिनाइयों ने विधि आयोग का इन प्रश्नों पर स्वेच्छा से

विचार करने के लिए इस उद्देश्य से प्रेरित किया है कि विधि को और अधिक सरल बनाया जाए तथा तकनीकी बातों को लेकर होने वाली मुकद्दमेबाजी को दूर किया जाए।

उपरोक्त उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए हम विनिर्दिष्ट अधिनियम की धारा 1, 6, 15, 16, 20, 22, 28 और 33 की परीक्षा करने के लिए अग्रसर हो रहे हैं तथा उस न्याय विधि का विश्लेषण करने जा रहे हैं जिसने न्यायिक विनिश्चयों को जन्म दिया है और जो कमियां सामने आई हैं। अन्त में हमने इस बाबत सिफारिशों की हैं। सन् 1963 के बाद विनिर्दिष्ट अनुतोष की बाबत ऐसे विभिन्न अन्य क्षेत्र सामने आए हैं जिनपर विचार आवश्यक है।² किन्तु इस प्रश्न पर पुनर्विचार करने पर हम यह समझते हैं कि उक्त कठिनाइयों के लिए विभिन्न प्रकार के समाधानों की आवश्यकता है।³ किन्तु इस समय 1963 के अधिनियम की व्यवस्था में इस संबंध में परिवर्तन करना अथवा अन्य प्रकार के विनिर्दिष्ट अनुतोषों को भी सम्मिलित करके अधिनियम को और अधिक व्यापक बनाना उचित नहीं है।

अध्याय 2

राज्यक्षेत्रीय व्यापकता

2.1. 1963 के पूर्व, विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, जैसा कि वह समय-समय पर संशोधित किया गया था, जम्मू-कश्मीर राज्य पर तथा 'अनुसूचित जिलों' के रूप में ज्ञात राज्यक्षेत्रों पर लागू नहीं था। नौवीं रिपोर्ट में इन निबन्धनों को हटाने का सुझाव दिया गया था। इसे स्वीकार किया गया और 1963 के अधिनियम को जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाए संपूर्ण भारत पर लागू कर दिया गया। आयोग की राय में ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे कि यह अपवर्जन आगे भी चलता रहे। अनेक केन्द्रीय अधिनियम, जिनके अन्तर्गत आय-कर अधिनियम और धन-कर अधिनियम भी हैं (जो संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 1 के अन्तर्गत आते हैं) उक्त राज्य पर विस्तारित किए गए हैं। अब समय आ गया है कि अन्य अधिनियम, जैसे कि संविदा अधिनियम, विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम और भागीदारी अधिनियम, का विस्तार भी जम्मू-कश्मीर राज्य पर किया जाए और वे स्थानीय विधियों का, यदि कोई हों, स्थान लें, भले ही उनकी विषय वस्तु सातवीं अनुसूची की तीसरी सूची के अन्तर्गत हो। हमारी राय में, उपरोक्त कानूनों की बाबत अखिल भारतीय एकरूपता आवश्यक है, उचित है और वांछनीय है, क्योंकि वे समस्त विषयों में मान्यताप्राप्त सार्वभौमिक साधारण सिद्धांतों पर आधारित हैं। अतः हम यह सिफारिश करना चाहेंगे कि "जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाए" शब्दों का अधिनियम की धारा 1(2) में से लोप कर दिया जाए। तथापि, यह आवश्यक है कि ऐसा करने से पूर्व संविधान के अनुच्छेद 370 के अधीन एक उचित राष्ट्रपतीय आदेश जारी किया जाए ताकि ऐसी विधियों को, जो संविधान की सातवीं अनुसूची की तीसरी सूची के अन्तर्गत आती हैं, जम्मू-कश्मीर राज्य पर प्रवृत्त किया जा सके।

अध्याय 3

कब्जे के प्रत्युद्धारण के लिए वाद

3.1. 1977 के अधिनियम की धारा 9 में ऐसे वाद के लिए जिसे किसी व्यक्ति की सहमति के बिना, विधि के उचित अनुक्रम से अन्यथा, किसी स्थावर संपत्ति से बेदखल किया गया हो, एक संक्षिप्त अनुतोष का उपबंध किया गया था और उसे, हक और अन्य उलझन-पूर्ण प्रश्नों पर विचार करने की आवश्यकता के बिना भी तुरन्त कब्जा प्रत्युद्घृत करने में

समर्थ बनाया गया था। परन्तु यह तब जब उसने बेकब्जा होने से छह मास के भीतर वाद फाइल किया हो। यद्यपि, नौवीं रिपोर्ट¹ में इस उपबंध का लोप करने की सिफारिश की गई थी, किन्तु 1963 के अधिनियम में इस उपबंध को धारा 6 के रूप में बनाए रखा गया है।

3.2. धारा 6 के निर्वचन के बारे में इस प्रश्न पर विरोधी न्यायिक राय है कि क्या कोई ऐसा स्वामी उक्त धारा के अधीन कब्जे के लिए तब वाद ला सकता है जब वह स्वयं नहीं अपितु उससे हक प्राप्त करने वाला व्यक्ति संपत्ति पर कब्जा किए हुए हो। एक मत तो यह है कि जब स्वामी व्युत्पन्नी कब्जा-धारक को ऐसा हित प्रदान करता है जो उसे संपत्ति का वास्तविक प्रयोग और कब्जा करने का हकदार बनाता है तो केवल ऐसा व्युत्पन्नी धारक ही धारा 6 के अधीन कार्यवाही कर सकता है न कि स्वामी²। दूसरा मत यह है कि व्युत्पन्नी धारक को किसी अतिचारी द्वारा बेकब्जा करना वास्तव में स्वयं स्वामी को बेकब्जा करना है और वह व्युत्पन्नी धारक को भी इस धारा के अधीन कार्रवाई करने के लिए हकदार बनाता है³। यह सुझाव दिया गया है कि अंतिम मत ही संभव मत है और अन्य मामलों की बाबत जो मत हैं उनकी विभिन्नता स्पष्ट की जा सकती है। इस मामले को लेकर जो विरोधी मत हैं उनके गुणावगुण पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है किन्तु इस स्थिति को विधि बनाकर साफ करना वांछनीय है। हमारी यह राय है कि यदि धारा 6 को सफल बनाए रखना है तो, यह अनुतोष स्वामी की स्थिति वाले व्यक्ति को भी उपलब्ध होना चाहिए जो व्युत्पन्नी धारक के माध्यम से कब्जे में है। इससे विभिन्न मत व्युत्पन्नी कब्जा को रखने वाले व्यक्ति को किसी तृतीय पक्षकार के साथ भिड़ा सकता है और इससे वास्तविक स्वामी संपत्ति के कब्जा को खो सकता है। अतः, हम यह सुझाव देना चाहेंगे कि धारा 6(1) का संशोधन किया जाए और वह निम्नलिखित रूप में हो:

"6(1). यदि कोई व्यक्ति अपनी सहमति के बिना स्थावर संपत्ति से विधि के सम्यक् अनुक्रम से अन्यथा बेकब्जा कर दिया जाए तो वह अथवा ऐसा कोई व्यक्ति जिसके माध्यम से उसका कब्जा, अथवा यह व्युत्पन्न अधिकार द्वारा दावा करने वाला कोई भी व्यक्ति, किसी ऐसे अन्य हक के होते हुए भी जो ऐसे वाद में खड़ा किया जा सके, उसका कब्जा, वाद द्वारा, प्रत्युद्घृत कर सकेगा।"

अध्याय 4

वे व्यक्ति जिनके द्वारा संविदाएं विनिर्दिष्टतः प्रवृत्त की जा सकेंगी

4.1. 1963 के अधिनियम की धारा 15, 1877 के अधिनियम की धारा 23 को पुनः प्रस्तुत करती है। इसमें उन व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है जिनके पक्ष में या जिनके विरुद्ध संविदाएं विनिर्दिष्टतः प्रवृत्त की जा सकेंगी। साधारण नियम यह है कि संविदा के आधार पर कोई वाद खंड (क) में उल्लिखित संविदा के पक्षकारों में से किसी के भी द्वारा लाया जा सकता है। संविदा के पक्षकारों में से किसी भी पक्षकार के हितप्रतिनिधि के अधिकार का उल्लेख खंड (ख) में किया गया है। खंड (घ) से लेकर (छ) तक में उन विशेष मामलों के लिए उपबंध किया गया है जहां वादहेतुक (यदि वह समनुदेशीय है) संविदा के पक्षकारों में से किसी एक पक्षकार द्वारा समनुदिष्ट किया जाता है अथवा उसकी मृत्यु या निर्वापन की दशा में, विधि के प्रवर्तन से, जीवित रहता है। ये सभी अप्रत्यक्ष रूप से इस नियम पर जोर देते हैं कि संविदा का कोई पर-पक्षकार वाद नहीं ला सकता और यह बात अनेकों न्यायिक विनिश्चयों¹ से साबित है।

4.2. इंग्लैंड में, यह नियम कि संविदा का कोई पर-पक्षकार वाद नहीं ला सकता, इस सिद्धांत के साथ गहन रूप से जुड़ा हुआ था कि संविदा का प्रतिफल उसके पक्षकारों में से

ही किसी के द्वारा गतिमान हो सकता है किसी पर-व्यक्ति द्वारा नहीं। अतः, वहाँ न्यायालयों ने निरंतर सामान्य विधि के इस नियम का कठोरता से अनुपालन करने पर बल दिया है यद्यपि सामान्य विधि के अन्तर्गत प्रायः किसी एक या अनेक आधारों पर, समुचित मामलों में अनुतोष प्रदान किया जाता रहा है।

4.3. इंग्लैंड में, जो स्थिति है उसका संक्षेप में वर्णन चेशायर और फिफुट (11वां संस्करण), पृ० 430-455 पर तथा आनसन (23वां संस्करण) अध्याय 10 पर देखा जा सकता है। चेशायर ने (पृ० 441 पर) निम्नलिखित मत व्यक्त किया है:

“इस प्रकार से, संबंध के सिद्धांत से, जो सामान्यतया संविदा की प्रकृति से और विशेष रूप से इंग्लिश संविदा से अनुचित प्रतीत नहीं होता है, अन्याय हुआ है और यह सिद्धांत आधुनिक आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त साबित हुआ है। संसद ने भी, जब भी उसने इस विषय पर विचार किया है, केवल अस्थायी और अवसर के अनुसार ही अनुतोष प्रदान किया है। इन परिस्थितियों में, यह आश्चर्य की बात नहीं है कि ऐसे और अनेक प्रयास हुए हैं जिनके द्वारा न्यायालय ने इस सिद्धांत से असहमति प्रकट की है। वास्तव में यह प्रयत्न काफी हद तक सफल रहे हैं।”

आनसन का कहना है कि (पृ० 398):

“संविदा के संबंध का सिद्धांत न्यायालयों में भी और संविदा विधि के विषय पर पाठ्य पुस्तकों के लेखकों के बीच भी काफी तर्क-वितर्क का विषय रहा है। यह कहा जाता है कि यह सिद्धांत केवल पर-पक्षकारों की उचित प्रत्याशाओं को नष्ट भर करता प्रतीत होता है, सीदे की सुरक्षा के मामले में समुदाय के सामाजिक हित का ध्यान नहीं रखता और यह सिद्धांत इंग्लैंड की विधि में नहीं है, तथा साधारणतया संयुक्त राज्य अमरीका की विधि व्यवस्था में भी नहीं है। ला रिविजन कमेटी की अपनी छठी अंतरिम रिपोर्ट² में इस सिद्धांत के उत्सादन की सिफारिश में व्यक्त वास्तविक विचार निम्नलिखित रूप में हैं:

“जहाँ किसी संविदा में प्रत्यक्ष निबंधनों द्वारा किसी पर-पक्षकार को प्रत्यक्ष रूप से फायदा प्रदान किया गया है वहाँ पर-पक्षकार उस उपबंध को अपने ही नाम में प्रवृत्त कराने का हकदार होगा परन्तु यह तब जब वचनदाता पर-पक्षकार के विरुद्ध कोई ऐसी प्रतिरक्षा प्रस्तुत करने का हकदार हो जो वचनग्रहीता के विरुद्ध विधिमान्य हो। पर-पक्षकार के अधिकार संविदाकारी पक्षकारों की पारस्परिक सहमति से किसी भी ऐसे समय संविदा को रद्द करने के अधीन रहते हुए होंगे जिस समय के पूर्व पर-पक्षकार ने उसे अभिव्यक्त रूप से अथवा आचरण द्वारा स्वीकार कर लिया हो”।³

यह देखा गया है कि लार्ड डेनिंग इस नियम की निरंतर आलोचना करने वालों में से थे किन्तु उनका यह प्रयास कि यह सिद्धांत 19वीं शताब्दी का ऐसा आविष्कार था जो कि वर्तमान काल के लिए असंगत है, सफल नहीं हो सका⁴। किन्तु यद्यपि हाऊस आफ लार्डस ने इस बात पर बल दिया है कि यह नियम इंग्लैंड की विधि में सुदृढ़ता से जुड़ा हुआ है, इसमें संदेह नहीं है कि इसका पुनरीक्षण करने की ओर इसे शिथिल करने की आवश्यकता है⁵।

4.4. ऐसा कोई कारण नहीं है जिसे ऐसा असाम्यापूर्ण नियम भारत में चलता रहे और विशेष रूप से तब जब, भारतीय संविदा अधिनियम के अधीन, वचन के प्रतिफल का वचनवाता की ओर से गतिमान होना आवश्यक नहीं है अपितु वह किसी अन्य व्यक्ति द्वारा भी गतिमान हो सकता है⁶।

4.5. भारतीय न्यायालयों के समक्ष प्रायः ऐसी स्थितियाँ आई हैं जहाँ संविदा स्पष्ट रूप से किसी पर-पक्षकार के फायदे के लिए आशयित है किन्तु फिर भी न्यायालयों ने ऐसे

पर-पक्षकारों की ओर से संविदा को प्रवृत्त करने में संकोच प्रकट किया है⁷। यद्यपि भारत में, इंग्लिश विधि से परे हटकर, यह स्वीकार किया गया है कि संविदा का प्रतिफल पर-पक्षकार की ओर से भी गतिमान हो सकता है⁸। बहुत कम मामलों में ही, विधि पर दबाव डालते हुए तथा साम्या के किसी सिद्धांत को स्वीकार करते हुए अथवा अभिकरण, न्यास, समनुदेश या किसी कानून के किसी विशेष आधार पर, कुछ अनुतोष मंजूर किए गए हैं⁹।

4.6. यह स्पष्ट है कि भारत में ऐसी कार्यवाही पर इस प्रकार की सीमाएँ लगाने का कोई न्यायोचित्य नहीं है। संयुक्त राज्य अमरीका में लम्बे तर्क-वितर्क के पश्चात् अब यह सुनिश्चित हो गया है कि पर-पक्षकार भी अन्य व्यक्तियों द्वारा उनके फायदे के लिए की गई संविदाओं के आधार पर वाद ला सकता है¹⁰। आस्ट्रेलिया में भी स्थिति यह है कि यद्यपि वह व्यक्ति, जो संविदा का पक्षकार नहीं है, उसके आधार पर वाद नहीं ला सकता और उसकी वाध्यताओं को प्रत्यक्ष रूप से प्रवृत्त नहीं करा सकता किन्तु उस व्यक्ति के लिए यह संभव है कि वह “अपनी ओर से प्रवृत्त कराने की कार्रवाई से भिन्न कार्रवाई द्वारा अपने अधिकार के आधार पर” फायदा प्राप्त कर सके¹¹। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, इंग्लैंड में ला रिविजन कमेटी ने इस विधि का पुनरीक्षण यह उद्देश्य कराने के लिए करने की सिफारिश की थी कि जब किसी संविदा की स्पष्ट शर्तें किसी पर-पक्षकार को प्रत्यक्ष रूप से फायदा प्रदान करने के लिए आशयित हों तब उसे पर-पक्षकार द्वारा अपने नाम से ही प्रवृत्त कराया जा सकेगा¹²।

4.7. इसी दृष्टि से यह सिफारिश की जाती है कि 1963 के अधिनियम की धारा 15 में निम्नलिखित आशय का खंड (1) अंतःस्थापित करके संशोधन किया जाए:

“(i) किसी व्यक्ति द्वारा, जहाँ संविदा, अभिव्यक्त निबंधनों द्वारा, ऐसे व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से फायदा प्रदान करने के लिए तात्पर्यित है।”

अध्याय 5

तत्परता और इच्छा

5.1. अधिनियम की धारा 16(ग) ने, जिसे मुख्य रूप से इस सिद्धांत को प्रभावी करने के लिए अंतःस्थापित किया गया था कि जो कोई साम्या की सहायता प्राप्त करने की वांछा करता है उसे स्वयं भी साम्या बरतनी चाहिए, कतिपय कठिनाइयाँ उत्पन्न की हैं और निबंधन संबंधी कतिपय समस्याओं को जन्म दिया है। खंड निम्नलिखित प्रकार से है:—

“संविदा का द्विनिर्दिष्ट पालन किसी ऐसे व्यक्ति के नाम से नहीं कराया जा सकता—

(क) * * * * *

(ख) * * * * *

(ग) जो यह प्रकथन करने और साबित करने में असफल रहे कि उसके संविदा के उन निबंधनों से भिन्न जिनका पालन प्रतिवादी द्वारा निवारित अथवा अधिव्यक्त किया गया है, ऐसे मर्मभूत निबंधनों का, जो उसके द्वारा पालन किया जाने हैं, उसने पालन कर दिया है अथवा पालन करने के लिए वह सदा तैयार और रजामंद रहा है।”

5.2. “जो यह प्रकथन करने और साबित करने में असफल रहे” शब्दों के कारण दो कठिनाइयाँ सामने आई हैं। पहली तो यह कि ये शब्द स्पष्ट रूप से वाद में प्रकथन के प्रतिनिवेश करते हैं और, जहाँ प्रकथन पर अमल किया जाता है वहाँ, वादी को विचारण के अनन्त में यह साबित करना होता है कि वह इस प्रकार से तत्पर है और इच्छुक है।

किसी भूल से, आदेशर मामा के मामले⁸ में जो निर्णय द्विती काउंसिल ने दिया था उसके शीर्षटिप्पण में इस आशय का एक मत प्रतीत होता है कि वादी की ओर से डिक्ली की तारीख पर्यन्त संविदा का पालन करने की तत्परता और इच्छा होनी चाहिए⁹। दूसरी कठिनाई उस प्रकथन की प्रकृति और स्वरूप की बाबत है जो वादी को करना होता है।

5.3. जहाँ तक कि इन दोनों कठिनाइयों में से प्रथम का संबंध है, कोई उपचार संबंधी आवश्यकता नहीं है। न्यायालय वादी की तत्परता और इच्छा का अधिनिर्णय वाद में किए गए प्रकथन और विचारण में प्रस्तुत साक्ष्यों के आधार पर कर सकता है। ऐसा और कोई उपाय नहीं है जिसके द्वारा इन तारीखों के परे तक और डिक्ली की तारीख पर्यन्त वादी की तत्परता और इच्छा को अभिनिश्चित या अधिनिर्णीत किया जा सके और न इसकी आवश्यकता ही है⁴। इसके अतिरिक्त, यह ध्यान में रखने योग्य है कि यदि वादी विचारण के पश्चात् संविदा के अधीन अपनी बाध्यताओं का पालन करने में अनिच्छा या तत्परता की कमी मन में ले आता है तो वह या तो विनिर्दिष्ट अनुतोष के लिए डिक्ली पर जोर नहीं देगा अथवा, यदि उसने डिक्ली प्राप्त कर ली है तो, उसे निष्पादित नहीं करेगा।

5.4. जहाँ तक दूसरे प्रश्न का संबंध है, कठिनाई सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 में विनिर्दिष्ट अनुतोष के लिए वादों की बाबत वाद-पत्र के लिए विहित प्ररूप के कारण पैदा हुई है (अनुसूची 1, प्ररूप 47-48)। जो प्रश्न उठाए गए हैं वे ये हैं—(1) वाद-पत्र में किए गए प्रकथन क्या उन्हीं शब्दों में होने चाहिए जो प्ररूप में विहित किए गए हैं अथवा तात्विक रूप से उसका अनुपालन करना पर्याप्त है और (2) क्या वाद-पत्र में ऐसा प्रकथन करने में हुई आरंभिक भूल विनाशकारी है या तत्पश्चात् उसका संशोधन करने की अनुज्ञा दी जा सकती है।

5.5. प्रथम प्रश्न का पूर्ण उत्तर उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए प्रेम राज बनाम डी० एल०एफ० हार्जिसिंग एंड कंस्ट्रक्शन (प्रा०) लिमिटेड⁵, जोसेफ बर्गिस बनाम जोसेफ एल्ले⁶ और अब्दुल खादिर राजधेर बनाम सारासाई⁷ निर्णयों द्वारा दिया जा चुका है जिनमें इस सिद्धांत का अधिकतम किया गया है कि विहित प्ररूप में प्रकथन के अभाव के कारण वाद को खारिज कर दिया जाना चाहिए⁸। यही स्थिति तब होगी जहाँ विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम के उपबंधों और सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन विहित वाद-पत्र के प्ररूप में गहरे संबंध हो, जैसा कि विधि आयोग की नौवीं रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है। जब एक बार धारा के अनुरूप वाद पत्र में प्रकथन कर दिया गया है वहाँ न्यायालय निश्चित रूप से तात्विक अनुपालन के नियम को लागू करते हैं और केवल प्ररूप में तकनीकी त्रुटि के कारण वाद को खारिज नहीं करते हैं। किंतु भारतीय न्यायालयों ने एक मत से ऐसा विचार व्यक्त किया है, और यह बात उच्चतम न्यायालय द्वारा शोशीनाथराव के मामले¹⁰ में प्रकट किए गए विचार के आधार पर है, कि वादपत्र में प्रकथन का पूर्ण अभाव वाद के लिए विनाशकारी होगा¹¹। यदि ऐसा है तो यह प्रश्न उठेगा कि क्या न्यायालय के लिए ऐसे वाद में वादी को, या तो उसके निवेदन पर अथवा स्वेच्छा से वाद-पत्र में संशोधन करने की अनुज्ञा देने की छूट या विचारण के समय अथवा अपील के प्रक्रम पर, होगी जिससे कि मूल रूप से लोप किए गए प्रकथन को सम्मिलित कर लिया जाए।

5.6. उपरोक्त निर्णयों को दृष्टि में रखते हुए एक मत यह हो सकता है कि उपर्युक्त कठिनाइयों का समाधान प्रत्येक मामले में न्यायिक विनिश्चय के लिए छोड़ दिया जाए और कानून में दिया गया नियम, यदि उसका उचित रूप से निर्वहन किया जाता है तो, ऐसी कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं करता जिसका उपचार न हो सके। यह कहा जा सकता है कि वादी के लिए ऐसे त्रुटिपूर्ण वाद-पत्र को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 23 के नियम 1(2) के अनुसार वापस लेने की और नया वाद खाने की स्वतंत्रता है यदि परिशीला की अवधि के भीतर ऐसा करना संभव हो¹² अथवा विकल्प के रूप में उसे वाद-पत्र में संशोधन करने का निवेदन करने की छूट है¹³।

5.7. हम यह नहीं मानते कि ऐसा करना उचित है। वास्तविक कठिनाईयां उत्पन्न होती ही रहेंगी और वाद के तकनीकी अभिवाक् के आधार पर खारिज होने का खतरा बना रहेगा यदि इस धारा को ज्यों का त्यों छोड़ दिया जाता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, न्यायालय इस बात पर जोर देगा कि अभिवाक् में तत्परता और इच्छा का प्राकृतिक अभिवाक् सम्मिलित होना चाहिए और यदा-कदा उच्चतम न्यायालय के निर्णयों¹⁴ को इस रूप में लिया जाता है मानों कि वे प्रथम अनुसूची के प्ररूप सं० 47-48 की अपेक्षाओं का दृढ़ता से अनुपालन करने पर जोर देते हैं। यद्यपि, भारत में अभिवाकों की जो स्थिति है उसमें, अभिवाकों का संशोधन करने के बारे में न्यायालयों के उदार रुख होने की अपेक्षा की जाती है और सामान्य रूप से भी, न्यायालय ऐसा ही करते हैं किंतु यह कोई संतोषप्रद समाधान प्रतीत नहीं होता कि प्रत्येक मामले में इन प्रश्नों को न्यायालय के अवधारण के लिए छोड़ दिया जाए। त्रुटिपूर्ण अभिवाकों के कारण अनेक बार तुच्छ प्रश्न पैदा हो जाते हैं¹⁵। त्रुटिपूर्ण अभिवाक फाइल करना, तदुपरान्त, प्रायः देर से, उसका संशोधन करने के लिए आवेदन करना और उस पर सुनवाई ऐसे कदम हैं जो मामले के शीघ्र निष्पादन में गतिरोध पैदा कर देते हैं। प्रायः न्यायालय संशोधन को मंजूर भी नहीं करते¹⁶ और, कभी-कभी उच्चतम न्यायालय के कतिपय विनिश्चयों¹⁷ को दृष्टि में रहते हुए ऐसा करने में संकोच भी करते हैं। अतः, यह अच्छा है कि कानून में से वाद-पत्र में तत्परता और इच्छा की बात विनिर्दिष्ट रूप से प्रकथन करने की बात का लोप कर दिया जाए, यद्यपि ऐसी तत्परता और इच्छा को पक्षकार को डिक्ली अभिप्राप्त करने के पूर्व साक्ष्य द्वारा साबित करनी होगी। अतः, हम सिफारिश करते हैं कि अनावश्यक मुकदमेबाजी से बचने की दृष्टि से "प्रकथन करने और" शब्दों को धारा 16(ग) में से विलोपित कर दिया जाए।

अध्याय 6

पारस्परिकता का सिद्धांत

6.1. अधिनियम की धारा 20(4) में निम्नलिखित उपबंध किया गया है:

"न्यायालय किसी पक्षकार को संविदा का विनिर्दिष्ट पालन कराने से इन्कार केवल इस आधार पर नहीं करेगा कि संविदा दूसरे पक्षकार की प्रेरणा पर प्रवर्तनीय नहीं है।"

यह उपधारा नौवीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशों के आधार पर निष्पादित की गई थी जिस रिपोर्ट में, अंतर्वालिप्त सिद्धांत पर विस्तारपूर्वक विचार करने के पश्चात्¹, यह अनुभव किया गया था कि इस आशय के विनिर्दिष्ट उपबंधों के अभाव में मीर सरबजन के मामले में², अवयस्क की ओर से संपत्ति क्रय करने की संविदाओं की दशा में, जो संविदाएं अवयस्क के फायदे के लिए नहीं कही जा सकतीं, नियम को लागू करने का भय बना रहेगा। मुल्ला ने यह मत प्रकट किया है कि दो कारणों से इस उपधारा की आवश्यकता को स्वीकार करने में कठिनाई है³ : एक तो यह कि धारा 12 में पारस्परिकता के सिद्धांत को स्पष्ट रूप से अस्वीकार किया गया है और दूसरा यह कि उपधारा (4) की भाषा आयोग द्वारा प्रकल्पित प्रकार के मामलों में किसी भी प्रकार से सुसंगत नहीं है क्योंकि वह केवल संविदाओं के प्रवर्तन को लागू होती है। मीर सरबजन जैसे मामलों में ऐसी कोई विधिपूर्ण संविदा नहीं थी जिसके विनिर्दिष्ट अनुपालन के लिए निवेदन किया जा सकता था। एक मात्र स्थिति जिस में पारस्परिकता के सिद्धांत का लाभ लिया जा सकता है, वहाँ आती है जहाँ संविदा के पक्षकारों में से कोई उसके विनिर्दिष्ट अनुपालन की प्रार्थना नहीं कर सकता जब कि दूसरा पक्षकार ऐसा करने में सभर्य होगा और ऐसी स्थिति के लिए अधिनियम की धारा 12 में पर्याप्त उपबंध कर दिया गया है। इस उपबंध की इस आलोचना में कि वह अनावश्यक और बेकार है कुछ बल प्रतीत होता है। तथापि, हमें अधिनियम 3-2 Mof/L&J/ND/94

में से धारा 20(4) का लोप करने का मुद्दा देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। यह उपबंध तीस वर्षों से कानून में है और इससे कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं हुई है। यह केवल इस सिद्धांत का समर्थन करता है कि पारस्परिकता के अभाव के कारण विनिर्दिष्ट अनुपालन की डिक्ली देने से इन्कार करने का कोई आधार नहीं होना चाहिए और यह अनेक निर्णयों पर आधारित है जिसका नौवीं रिपोर्ट में उल्लेख किया गया है।

अध्याय 7

कब्जा और विभाजन

7.1. 1963 में नए रूप में पुनःस्थापित की गई धारा 22 का उद्देश्य पक्षकारों को एक ही वाद में विनिर्दिष्ट अनुपालन तथा कब्जा आदि के लिए वाद लाने में समर्थ बनाना था। इस उपबंध को आवश्यक समझा गया था क्योंकि, 1877 के अधिनियम के अधीन, कुछ उच्च न्यायालयों ने यह मत व्यक्त किया था कि चूंकि एक विनिर्दिष्ट अनुपालन की डिक्ली के पश्चात् ही प्राप्त होगा अतः कब्जे का दावा उसके पश्चात् ही एक पृथक् वाद लाकर किया जा सकता था। तथापि, अन्य उच्च न्यायालयों ने इस पक्ष का समर्थन किया था कि कब्जे की मांग उसी वाद में की जा सकती थी। कुछ न्यायालयों ने तो यहां तक कह दिया कि यदि वाद में कब्जे की प्रार्थना न भी की गई हो तब भी वाद निष्पादन कार्यवाहियों में डिक्ली के अनुसरण में विलेख को निष्पादित कराने के पश्चात् कब्जे का दावा किया जा सकता था। बाबूलाल बनाम हजारी लाल किशोरी लाल में उच्चतम न्यायालय ने धारा 22(2) के उपबंधों का विश्लेषण करते हुए निम्नलिखित मत प्रकट किया है:

“अधिनियम में ‘कार्यवाही’ शब्द की परिभाषा नहीं दी गई है। शार्टर आवसफोर्ड डिक्शनरी में इसे ‘विधि के आधार पर कोई कार्रवाई करना, कोई विधिक कार्रवाई या प्रक्रिया; न्यायालय के प्राधिकार से किया गया कोई कार्य; किसी भी प्रकार द्वारा किसी मामले में उठाया गया कोई कदम’ के रूप में परिभाषित किया गया है। ‘कार्यवाही’ एक अत्यंत अनेकार्थक शब्द है और सामान्यतया इससे किसी विधिक अधिकार को प्रवृत्त करने के लिए की गई विहित कार्रवाई अभिप्रेत है। यह कोई तकनीकी बात नहीं है जिसका कि सुनिश्चित अर्थ हो किन्तु ऐसा पद है जिसके अर्थ की परिधि कानून द्वारा शासित होगी। यह बात ऐसी किसी विहित पद्धति की वाचक है जिससे कानूनी कारोबार निपटाया जाता है। धारा 22 में आने वाले शब्द ‘कार्यवाही’ के अन्तर्गत निष्पादन कार्यवाहियां भी हैं। रामेश्वर नाथ बनाम उत्तर प्रदेश यूनिथन बक लि०³ में ऐसा ही मत प्रकट किया गया था। यह बात न्यायालय को अत्यधिक स्वतंत्रता प्रदान करती है जिससे कि न्यायालय मामले के पक्षकारों के प्रति न्याय कर सके। निष्पादन विधिक कार्यवाहियों का एक प्रक्रम मात्र है। यह विधिक प्रक्रिया का एक कदम है। यह मुकद्दमेबाजी का एक आयाम है। यह नसैनी की एक सीढ़ी है। मुकद्दमेबाजी की यात्रा में विभिन्न आयाम हैं। निष्पादन उनमें से एक है।”

धारा 22 को यदि उपरोक्त विनिश्चय के साथ पढ़ा जाए तो पूर्व में प्रस्तुत किए गए दो मतों में से अंतिम मत को विधिक मान्यता प्राप्त हो जाती है। तथापि, इस स्थिति को स्पष्ट करना और उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय को प्रभावी करने के लिए धारा 22(2) के परंतुक में ‘कार्यवाही’ शब्द के पश्चात् ‘जिसके अन्तर्गत निष्पादन कार्यवाही भी हैं’ शब्दों को जोड़ना वांछनीय प्रतीत होता है। हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

अध्याय 8

संविदा का विखंडन

8.1. अधिनियम की धारा 28(1), विक्रय की कतिपय संविदाओं अथवा स्थावर संपत्ति के पट्टे को वहां विखंडित करने के लिए उपबंध करती है जहां क्रय धन या पट्टा धन विनिर्दिष्ट अवधि के भीतर चुका नहीं दिया जाता। न्यायालय, यदा-कदा, ‘स्वयं प्रवृत्तशील’ अंतिम डिक्ली पारित कर सकते हैं, अर्थात् ऐसी डिक्ली जिसमें यह व्यवस्था की गई हो कि यदि डिक्ली द्वारा नियत समय के भीतर भुगतान नहीं कर दिया जाता तो वाद खारिज हो जाएगा। इस प्रश्न पर कि, क्या ऐसे मामलों में भी, न्यायालय संदाय के लिए मूल रूप से नियत किए गए समय को, डिक्ली के निर्बंधनों में किसी बात के होते हुए भी, बढ़ा सकते हैं, न्यायिक राय में विरोध है। सही बात तो यह है कि, ऐसा प्रतीत होता है कि, ऐसी ‘स्वयं प्रवृत्तशील’ डिक्ली विधिविरुद्ध होगी और किसी भी दशा में वह धारा 28 के स्पष्ट उपबंधों के विपरीत होगी। ऐसा होने पर भी हमारा यह विचार है कि इस बात को स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि धारा 28 ऐसे मामलों पर लागू होगी। अतः, हम सिफारिश करते हैं कि धारा 28 में उपधारा (1) के पश्चात् एक नई उपधारा (1क) अन्तःस्थापित की जाए जो निम्नलिखित रूप में हो:

“(1क) विक्रेता या पट्टेदार किसी भी समय उस अवधि के विस्तार के लिए उपधारा (1) के अधीन आवेदन कर सकता है जिस अवधि के भीतर क्रयधन या अन्य राशि डिक्ली के अधीन संदेय थी या संविदा के विखंडन के लिए आवेदन कर सकता है और ऐसा आवेदन इस बात के होते हुए भी किया जा सकता है कि डिक्ली में ऐसी व्यवस्था की गई है कि क्रेता या पट्टेदार द्वारा उक्त राशि का डिक्ली में विनिर्दिष्ट अवधि अथवा न्यायालय द्वारा अन्यथा अनुज्ञात अवधि के भीतर संदाय करने में व्यतिक्रम की दशा में कतिपय परिणाम स्वयं ही हो जाएंगे।”

अध्याय 9

डिक्लियों का रद्दकरण

9.1. धारा 31 “लिखित लिखतों” के रद्दकरण के लिए उपबंध करती है। यह अभिव्यक्ति केवल संविदा तक सीमित नहीं है और उसका विस्तार इतना है कि उसके अन्तर्गत एक पक्षीय दस्तावेज, जैसा कि रसीदें, अभिकृतियां, दान-पत्र और वसीयतें, भी आ जाती हैं। यह निर्णय दिया गया है कि उसके अन्तर्गत अधिनियम और सुलह डिक्लियां भी आ जाती हैं। तथापि, यह संदेह है कि क्या सुलह डिक्लियों से भिन्न डिक्लियां भी इस अभिव्यक्ति के अर्थ के अन्तर्गत आ जाएंगी।¹

यह चर्चा हम ऐसे ही कर रहे हैं। हम इस समय किसी कानूनी संशोधन की सिफारिश नहीं कर रहे हैं और हम इस विषय को न्यायालय द्वारा स्पष्ट किए जाने के लिए, यदि और जब कभी ऐसा अवसर आए, छोड़ रहे हैं।

अध्याय 10

सिफारिशें

10.1. संक्षेप में, हम अधिनियम में निम्नलिखित संशोधन करने की सिफारिश करते हैं:

1. धारा 1(2)—“जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाए” शब्दों का धारा 1(2) में से लोप किया जा सकता है। इस संशोधन को प्रभावी बनाने के लिए एक राष्ट्रपतीय आदेश संविधान के अनुच्छेद 370 के अधीन जारी किया जा सकता है।

2. धारा 6—अधिनियम की धारा 6(1) का निम्नलिखित रूप में संशोधन किया जा सकता है:

“6(1) यदि कोई व्यक्ति अपनी सहमति के बिना स्थावर संपत्ति से, विधि के सम्यक् अनुक्रम से अन्यथा, बैकजुजा कर दिया जाए तो वह अथवा ऐसा कोई व्यक्ति जिसके माध्यम से उसका कब्जा है, अथवा व्युत्पन्न अधिकार द्वारा दावा करने वाला कोई भी व्यक्ति, किसी ऐसे अन्य हक के होते हुए भी जो ऐसे वाद में खड़ा किया जा सके, उसका कब्जा, वाद द्वारा, प्रत्युद्धत कर सकेगा।”

3. धारा 15—धारा 15 में, निम्नलिखित खंड को खंड (i) के रूप में अंतःस्थापित किया जा सकता है:—

“(i) किसी व्यक्ति द्वारा, जहां संविदा, अभिव्यक्त निबन्धनों द्वारा ऐसे व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से फायदा प्रदान करने के लिए तात्पर्यित है।”

4. धारा 16(ग)—“प्रकथन करने और” शब्दों को हटाया जा सकता है।

5. धारा 22—धारा 22 की उपधारा (2) के परन्तुक में “कार्यवाही” शब्द के पश्चात् जिसके अन्तर्गत निष्पादन कार्यवाही भी है शब्द अन्तःस्थापित किये जा सकते हैं।

6. धारा 28—धारा 28 में, उपधारा (1) के पश्चात् उपधारा (1क) निम्नलिखित रूप में अन्तःस्थापित की जा सकती है:

“(1क) विक्रेता या पट्टेदार किसी भी समय उस अवधि के विस्तार के लिए उपधारा (1) के अधीन आवेदन कर सकता है जिस अवधि के भीतर क्रयधन या अन्य राशि डिक्री के अधीन सदेय थी या संविदा के विखंडन के लिए आवेदन कर सकता है और ऐसा आवेदन इस बात के होते हुए भी किया जा सकता है कि डिक्री में ऐसी व्यवस्था की गई है कि क्रेता या पट्टेदार द्वारा उक्त राशि का डिक्री में विनिर्दिष्ट अवधि अथवा न्यायालय द्वारा अन्यथा अनुज्ञात अवधि के भीतर संदाय करते में व्यक्तिगत की दशा में कतिपय परिणामस्वरूप स्वयं ही हो जाएंगे।”

अधिनियम में कोई अन्य परिवर्तन आवश्यक नहीं समझे गए हैं।

(के०एन० सिंह)

अध्यक्ष

(एस० रंगनाथन)

सदस्य

(डी०एन० सदाशिव)

सदस्य

(पी०एम० बक्शी)

सदस्य (अंशकालिक)

(एम० साकंस)

सदस्य (अंशकालिक)

(चि० प्रभाकर राव)

सदस्य सचिव

नई दिल्ली : 6 अक्टूबर, 1993

टिप्पण और संबंध

अध्याय 1

1. ए० आई० आर० 1982 उच्चतम न्या० 818
2. उदाहरण के लिए विभिन्न प्रकार की स्थितियों में मृत्यु अथवा शारीरिक क्षति के संबंध में क्षतिपूर्क अनुतोष, जिसके अन्तर्गत पुलिस की अभिरक्षा में मृत्यु या क्षति भी है।
3. आयोग और बड़े प्रश्नों पर विचार करने और उन्हें आगामी रिपोर्ट में सम्मिलित करने का विचार कर रहा है।

अध्याय 2

शून्य

अध्याय 3

1. नौवीं रिपोर्ट का पैरा 161
2. वीरास्वामी बनाम वेंकटचाला, ए आई आर 1926 मद्रास 18; रामचन्द्र बनाम सांबाशिव ए आई आर 1928 नागपुर 313।
3. रघुवीर बयाल बनाम हर गोविन्द, ए आई आर 1953, राज० 287; गोविन्दराम बनाम मेवा ए आई आर 1953, पेम्सू 188; सेलेश कुमार बनाम रमा देवी, ए आई आर 1952, आ० प्र० 339; जधुनाथ बनाम बिशुनाथ, आई एल आर 1951-2, इला० 16; रत्न लाल बनाम अमर सिंह, ए आई आर 1929, बम्बई 467; विदुवासिनी बनाम जानकी, (1901) आई एल आर 24 कलकत्ता, 260; विरजिवन्स बनाम मोहम्मद अल्ली (1881) आई एल आर 5 बम्बई 208।

अध्याय 4

1. डनलप पेनुमेंटिक टायर क० बनाम सेलक्रिज एंड क० 1915 ए सी 847; सकूटन्स लि० बनाम मिडलैंड सिलिकोन्स लि० 1962 ए सी 446; बैसविक बनाम बैसविक 1967-2 ए ई आर 1197 (एच०एल०)। खंड (ग) संभवतः इस नियम का वास्तविक अपवाद है और उसकी परिधि अत्यंत सीमित है।
2. 1937 (सी एम एन डी 5449), पैरा 48।
3. समिति की सिफारिश को इंग्लैंड में क्रियान्वित नहीं किया गया है।
4. बैसविक बनाम बैसविक (1968 ए सी 58) जिसमें सैम बनाम सैम (1966 सी एच 538) में दिए गए लार्ड डेनिंग के मत का अनुमोदन किया गया है जैक्सन बनाम होरिजन होलिडेज लि० 1975-3 ए एल एल ई आर 92 भी देखिए जिसमें लार्ड डेनिंग द्वारा नियम की दृढ़ता को कम करने का प्रयास किया गया था।
5. बोडर इन्वेस्टमेंट डेवलपमेंट लि० बनाम बिम्पी कंस्ट्रक्शन (यू के) लि० 1980-1 ए एल एल ई आर 571 में पृष्ठ 591 पर भी जैक्सन में लार्ड डेनिंग द्वारा प्रकट किए गए मत की आलोचना की गई थी किन्तु लार्ड स्कारमैन ने इस बात की वांछनीयता पर बल दिया है कि हाऊस आफ लॉर्ड्स नियम पर पुनः विचार करे।
6. भारतीय संविदा अधिनियम की धारा 2(घ)।

7. उदाहरण के लिए देखिए शिव ब्याल बनाम यूनिवर्सल ए आई आर 1963 पंजाब, 538। किन्तु कुछ विरोधी मत भी हैं जैसे क्षीरोड बिहारी बनाम मान गोविन्द, ए आई आर 1934 कलकत्ता 682, देव नारायण दैत्र बनाम चुनी घोष, ए आई आर 1941, कलकत्ता 129 और द्वारिका नाथ बनाम प्रिय नाथ, (1917) 22 सी डब्ल्यू 279। इस संदर्भ में पोलक एंड मुल्ला, भारतीय संविदा अधिनियम (10वां संस्करण) पृ० 28-37 देखिए।
8. भारतीय संविदा अधिनियम की धारा 2(घ)। सुब्बो चेट्टी बनाम अरुणाचलम चेट्टी, ए आई आर 1930 मद्रास 382; (बृष्णलाल संभू बनाम प्रमीला बाला, ए आई आर 1928 कलकत्ता, 518 और कंपनी प्रासपेक्टिव कं लि० बनाम स्टिक (1968) 2 डब्ल्यू एल आर 55, भी देखिए; मलय अध्यादेश के बारे में प्रिवी काउंसिल का विनिश्चय भी है जिसमें धारा 2(घ) के समान उपबंध है।
9. ख्वाजा मोहम्मद खां बनाम हुसनी बेगम, (1910) 37 आई०ए० 152 (पी०सी०) शुप्पु अमल बनाम सुब्रमन्या, आई०एल० आर० (1910) 33 मद्रास 238; सुंदराजा बनाम लक्ष्मी, आई०एल०आर० (1915) 38 मद्रास, 788।
10. पोलक और मुल्ला देखिए, भारतीय संविदा अधिनियम, दसवां संस्करण, पृ० 35।
11. कोल्स बनाम बैगाट्स एक्सीक्यूटिव एंड ट्रस्टीज कं लि० (1967) 40 ए०एल० जे०आर० 47।
12. सी एम डी 3449 (पृ० 31) जिसका उल्लेख बेसविक बनाम बेसविक (1967) 2 ए०ई०आर० 1197 में है।

अध्याय 5

1. गोमथीनायगम पिल्लै बनाम पलानीस्वामी नादार, ए०आई०आर० 1967 उच्चतम न्या० 868। पखर सिंह बनाम कृष्ण सिंह, 1947 राज० 112, में यह उल्लेख किया गया है कि तत्परता और इच्छा संविदा की तारीख से लेकर बाद फाइल करने की तारीख तक की बाबत होनी चाहिए।
2. अर्वेशर माम बनाम फूलोरा सीसन, ए०आई०आर० 1928 पी०सी० 208 प्रिवी काउंसिल 208 गोमथीनायगम के मामले में लागू किया गया था।
3. मुल्ला की पुस्तक स्पेसिफिक रिलीफ ऐक्ट, 10वां संस्करण पृष्ठ 497 देखिए।
4. गोमथीनायगम पिल्लै बनाम पलानीस्वामी नादार, ए०आई०आर० 1967 उच्चतम न्या० 228।
5. ए०आई०आर० 1968 उच्चतम न्या० 1355।
6. 1969 (2) एस सी सी 539।
7. ए आई आर 1990 उच्चतम न्या० 682।
8. धिन सिंह बनाम तारा चंद (ए०आई०आर० 1984 इला० 5) और कामदेव नाथ चौधरी बनाम देवेन्द्र कुमार नाथ (ए आई आर 1979 गुहा० 65) देखिए।
9. इबरीस अली बनाम अब्दुल समद, ए आई आर 1973 गुहा० 132 और कामदेवनाथ बनाम देवेन्द्र कुमार नाथ, ए आई आर 1979 गुहा० 65, तथापि, इस नियम के अपवाद भी दर्शाए गए थे।
10. ए आई आर 1967 उच्चतम न्या० 228; प्रेम राज बनाम डी एल एफ ए आई आर 1968 उच्चतम न्या० 1355 भी देखिए।

11. मदन बनाम कमालुद्दीन (ए आई आर 1930 पटना 121) देखिए जिसका उल्लेख नौवीं रिपोर्ट में किया गया था और पश्चात्पूर्ती मामले जिनका उल्लेख मुल्ला की पुस्तक स्पेसिफिक रिलीफ ऐक्ट, 10वां संस्करण पृ० 998 पर पाद टिप्पण (77 से 84) तक में किया गया है। पाकिस्तान के उच्चतम न्यायालय ने भिन्न मत व्यक्त किया है; मुल्ला, स्पेसिफिक रिलीफ ऐक्ट, 10 संस्करण, पृ० 998 पा० टि० (89)।
12. थकम्मा मेश्यु बनाम आजमतुल्ला खां जे० टी 1991-1 उच्चतम न्या० 351
13. सिविल प्रक्रिया संहिता, आदेश 6, नियम 17। यदि वह ऐसा करने में असफल रहता है तो वह विधि को या न्यायालय को दोषी नहीं कह सकता और उसे स्वयं को धन्यवाद देना होगा और वाद को खारिज किए जाने के परिणामों को सहन करना होगा।
14. औसेफ बर्गीस बनाम जोसेफ एले 1969(2) एस सी सी 439; ए०के० राउथेर बनाम पी०के० साराभाई, एआईआर 1990 उच्चतम न्या० 680।
15. साम्बाशिव राव बनाम बंगाह राजू, ए आई आर 1983 आ० प्र० 392; माराकेर बनाम सुदामा प्रसाद, एआईआर 1982 पटना 200।
16. गणेश ट्रेडिंग कं बनाम सौजी राम, एआईआर 1978 उच्चतम न्या० 484।

अध्याय 6

1. रिपोर्ट का पैरा 51 देखिए।
2. मीर सरवर्जन बनाम फखरुद्दीन मौहम्मद (1912) 39 आई०ए० 11
3. मुल्ला, स्पेसिफिक रिलीफ ऐक्ट, 10वां संस्करण, पृ० 1025।

अध्याय 7

1. अजुन बनाम साहू, ए आई आर 1950 इला० 415; कार्तिक बनाम दिवाकर, ए आई आर 1952 कलकत्ता 362; श्यामा बनाम तुली चंद (1987) इला० एल०जे० 148।
2. ए आई आर 1982 उच्चतम न्या० 818।
3. ए आई आर 1956 इला० 586।

अध्याय 8

1. भुजंगराव गणपत बनाम सेशराव राजाराम, ए आई आर 1974 बम्बई 101 और सूर्यनारायण बनाम सिदैया 1972 1 एन० डब्ल्यू०आर० 367; कंद्रा: सर्वेश्वरी बनाम सोमासुन्दरम 1977, 2 एम एल जे 68 और चलनरती बनाम सुब्बा रेडडी (1989) करेंट सिविल केसेस 431 (ऑ०प्र०) पृ० 433, 435 पर।

अध्याय 9

1. शांति प्रसाद बनाम कुंज लाल, ए आई आर 1953 पेप्सु 151, कंद्रा: दुनिया लाल बनाम नगेन्द्र नाथ, ए आई आर 1953 कलकत्ता 163।

विक्रेता--(1) प्रकाशन और विक्रम प्रबन्धक, विभिन्न साहित्य प्रकाशन, भारत सरकार, भारतीय विधि संस्थान भवन,
अमनाशास मार्ग, नई दिल्ली-110 001.

(2) प्रकाशन-नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110 054.